।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ
अंक चौथा

श्रावण
२४७५

सर्व दुःखों की परम-औषधि

जो प्राणी कषाय के आताप से तप्त हैं, इन्द्रिय विषयरूपी रोग से मूर्च्छित हैं, और इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग से खेद-खिन्न हैं – उन सब के लिए सम्यक्त्व परम हितकारी औषिध है। (सारसमुच्चय-38)

एक अंक
चार आना

५२

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

मोक्ष और बंध का कारण

साधक जीव के जहाँ तक रत्नत्रयभाव की पूर्णता नहीं होती, वहाँ तक उसे जो कर्मबन्ध होता है, उसमें रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है, वह बन्ध का कारण नहीं होता; परन्तु उस समय रत्नत्रयभाव का विरोधी जो रागांश होता है, वही बन्ध का कारण है।

जीव को जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंशतक बन्धन नहीं होता; किन्तु उसके साथ जितने अंश में राग है, उतने ही अंश तक उस रागांश से बन्धन होता है।

[पुरुषार्थ सिद्धिउपाय गाथा २१२-२१५]

सूचना

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दिगम्बर जैन पा. ट्रस्ट की ओर से पर्यूषणपर्व के हर्षोपलक्ष में श्री समयसार प्रवचन (प्रथम भाग) जिसका लागत मूल्य - ६–छह रुपया है, की २५० प्रतियाँ आधे मूल्य में उन दिगम्बर जैन मन्दिरों को देना निश्चित किया है, जहाँ की समाज आध्यात्मिक रस का आस्वादन करने वाली हो। अतः जो भाई अपने मन्दिरों को यह ग्रन्थराज मँगाना चाहें, उन्हें शीघ्र ही ३/- भेजकर निम्न पते से मँगा लेना चाहिए।

पं. शिवमुखराय जैन शास्त्री
मैनेजर
श्री म.ही. पाटनी पा. ट्रस्ट
मु.पो. - मारोठ (राजस्थान)

अषाढ़
२४७५

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक–४

लाठी शहर में श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

वर्तमान में सौराष्ट्र देश में श्री जिनेन्द्र शासन की प्रभावना का महान सुअवसर प्रवर्तमान है। पूज्य श्री कानजीस्वामी अपनी भगवती वाणी द्वारा उपदेश देकर सौराष्ट्र में श्रुतगंगा को प्रवाहित कर रहे हैं, और अपना गहरा आध्यात्मिक ज्ञान भव्य जीवों को दे रहे हैं; अतएव आज सौराष्ट्र में जगह-जगह तत्त्वचर्चा चल रही है, और अनेक पात्र जीव यथार्थ तत्त्वज्ञान को समझ रहे हैं। ज्यों-ज्यों लोग सच्चे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर रहे हैं, वैसे ही वैसे ही श्री वीतराग शासन के, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उन्हें बहुमान और भक्ति जागृत हो रही है और दिन-प्रतिदिन देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना में वृद्धि हो रही है। इसके फलस्वरूप सौराष्ट्र में अनेक स्थानों पर श्री वीतरागी जिनबिम्बों की स्थापना हुई है और होती जा रही है; उसी प्रकार गुरुभक्ति और शास्त्र प्रचार में भी वृद्धि हो रही है। इस प्रकार सौराष्ट्र में श्री जिनेन्द्र-शासन का जयनाद गूँज रहा है।

ज्येष्ठ शुक्ला ५ (श्रुतपंचमी) के मंगल दिवस को लाठी शहर में भगवान श्री सीमंधरादि जिनदेवों की वीतरागी प्रतिमाओं का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव था। इस महामंगल प्रसंग पर पूज्य श्री कानजीस्वामी लाठी शहर में पधारे थे। ज्येष्ठ कृष्णा ११ से प्रतिष्ठा विधि प्रारम्भ हुई थी। प्रातःकाल श्री महावीर स्वामी की मण्डप में स्थापना हुई और श्री समवशरण मंडलविधान प्रारम्भ हुआ, एवं सवालाख जाप का भी प्रारम्भ हुआ। कृष्णा १२ और १३ के दिन समवशरण-मण्डल विधान होता रहा। इसी बीच १३ के दिन, लाठी के भाईश्री छगनभाई और भगवानभाई ने अपनी-अपनी धर्मपत्नियों सहित पूज्य स्वामीजी के पास आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहणा की थी। रात्रि को भक्ति-भावना हुई थी।

ज्येष्ठ कृष्णा १४ के दिन प्रातःकाल मृत्तिकानयन विधि हुई थी। व्याख्यान के पश्चात् हरिचन्दभाई ने अपनी धर्मपत्नी सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की, दोपहर में अंकुरारोपण विधि हुई थी। ऐसे विधि प्रसंगों के निमित्त से वास्तव में तो भक्तजन श्री जिनेन्द्रदेव के पवित्र गुणों का स्मरण

पूजन और बहुमान करते हैं। रात्रि में बालकों ने ''चलो, दादा के दरबार में'' इस विषय का वैराग्यगर्भित संवाद किया था। भरत महाराज के छोटी-छोटी उम्र के बालक क्रीड़ा करने गये हैं, वहाँ तत्त्वचर्चा कर रहे हैं; इतने में सेनापति जयकुमार की दीक्षा के समाचार सुनकर वे सभी बालक वहीं वैराग्य को प्राप्त होते हैं और दीक्षा लेकर मुनि होने के लिए वहाँ से सीधे भगवान श्री आदिनाथ के समवशरण में अर्थात् ''दादा के दरबार में'' चले जाते हैं। ऐसा वैराग्यदृश्य संवाद में दिखाया गया था, इसके उपरान्त डाँडिया रास के साथ भक्ति हुई थी।

ज्येष्ठ कृष्णा ३० के दिन प्रातः श्री समवशरण मण्डलविधान पूर्ण हुआ और श्री जिनेन्द्र का अभिषेक हुआ था। अभिषेक को जल भरने के लिए जलयात्रा का जुलूस निकला था, तथा ध्वजदण्ड, कलश और वेदी शुद्धि हुई थी।

ज्येष्ठ शुक्ला एकम् से पंचकल्याण प्रारम्भ हुए थे। प्रतिष्ठा में मूलनायक श्री सीमंधर भगवान थे और विधिनायक श्री शांतिनाथ प्रभु थे। एकम् के दिन इन्द्रप्रतिष्ठा हुई, उसका जुलूस धूमधाम के साथ निकला था। रात्रि को गर्भकल्याणक की पूर्व क्रिया का दृश्य हुआ था; उसमें श्री शांतिनाथ प्रभु के माता के गर्भ में आने से पूर्व छहमास तक रत्नावर्षा और देव-देवियों द्वारा माता की सेवा आदि दृश्य हुए थे। ज्येष्ठ शुक्ला २ के दिन प्रातःकाल गर्भ कल्याणक का दृश्य हुआ था; उसमें माताजी को १६ स्वप्न आते हैं, दिग्कुमारी देवियाँ माता की सेवा करती हैं, माता से तत्त्वसम्बन्धी प्रश्न पूछती हैं और माताजी उनके योग्य उत्तर देती हैं, तथा देव माता-पिता को वस्त्र भेंट देते हैं – आदि दृश्य हुए थे। प्रतिष्ठाविधि करानेवाले पं. जी प्रसंगोचित विवेचन करके प्रत्येक प्रसंग को स्पष्ट रूप से समझाते थे।

व्याख्यान के पश्चात् लाठी के अग्रगण्य शेठ श्री लालजीभाई, तलकचन्द भाई, मगनभाई और जमनादास भाई – इन चारों भाईयों ने अपनी धर्मपत्नियों सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की थी। ब्रह्मचर्य विधि के पश्चात् श्री तलकचन्द भाई ने एक प्रसंगोचित काव्य द्वारा अपनी भक्तिभावना व्यक्त की थी। रात्रि को बालकों का संवाद 'चलो दादा के दरबार' फिर से हुआ था।

जन्मकल्याणक महोत्सव

ज्येष्ठ शुक्ला ३ के दिन प्रातः ६ से ९ तक जन्मकल्याणक महोत्सव हुआ था। यह प्रसंग अत्यन्त उत्साह और भव्यरीति से मनाया गया था। प्रातः श्री अचिरा माता की कूख से भगवान श्री शांतिनाथ का जन्म होता है, देवियाँ भगवान के जन्म की बधाई देती हैं और चारों ओर मंगलनाद गूँज उठता है। प्रभु जन्म के उत्साह में देवांगनाऐं नृत्य करती हैं। इन्द्र-इन्द्राणी जन्मोत्सव करने

आते हैं और बाल भगवान शांतिकुमार को मेरुपर्वत पर ले जाते हैं। जन्माभिषेक करने के लिए भगवान को मेरुपर्वत पर ले जाने का दृश्य अपूर्व था। पूज्य श्री कानजीस्वामी, इन्द्रध्वज, चाँदी के रथ में श्री समयसारजी और भक्ति से प्रफुल्लित मुमुक्षुसंघ के बीच हाथी पर बालप्रभुजी विराजमान थे। चारों ओर इन्द्र-इन्द्राणियाँ भक्ति कर रहे थे। 'अमरविलास' में मेरुपर्वत की रचना की गई थी। वहाँ पहुँचने पर मेरुपर्वत को तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। इस समय जय-जयकार ध्वनि से वातावरण गूँज उठा था। पश्चात् भगवान को मेरुपर्वतपर विराजमान करके इन्द्रों ने जन्माभिषेक प्रारम्भ किया। क्षीरसमुद्र में से कलश भर-भरकर देव इन्द्रों को देते हैं और इन्द्र अभिषेक करते हैं। इस समय अभिषेक करने के लिए उल्लसित भक्तिसमूहों को मेरुपर्वत भी छोटा हो गया था। मेरुपर्वत पर विराजमान बालक की दिव्यमुद्रा देखने से भक्तों के अन्तर में ऐसा लगता था कि –''अहो! इस आत्मा ने जन्म पूर्ण कर लिए हैं; अब इस संसार में फिर से इसका जन्म नहीं होगा, यह एक अन्तिम जन्म था, इसे पूर्ण करके भगवान जन्मरहित हो गये हैं। अपूर्व आत्मदर्शन के प्रताप से उनके जन्म-मरण का अन्त आ गया; ऐसे भगवान की भवरहितता का यह महोत्सव मनाया जा रहा है।'' जन्माभिषेक के पश्चात् इन्द्राणी ने भगवान को वस्त्राभूषण पहिनाये; और पश्चात् जन्माभिषेक की महान् रथयात्रा वहाँ से नगर की ओर लौटी। गृह आने पर इन्द्र ने ''अब तो मिले जगत के नाथ'' ऐसी स्तुति सहित ताण्डवनृत्य किया था।

दोपहर को भगवान श्री शांतिनाथ का पालना झुलाने की क्रिया हुई। चाँदी के पालने में झूलते हुए भगवान को देखकर ऐसा लगता था कि 'अहा! इस बालक का आत्मा ज्ञानी है, यह बड़ा होकर मुनि होगा और आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते संसार से मुक्त होगा।'

रात्रि को युवराज श्री शांतिकुमार का राज्याभिषेक हुआ। विश्वसेन महाराज ने अपना राजमुकुट उतारकर श्री शान्तिनाथ कुमार को पहनाया। श्री शान्तिनाथ भगवान कामदेव, चक्रवर्ती, और तीर्थंङ्कर इन तीन महान पदवियों के स्वामी थे। कुछ समय पश्चात् महाराज शांतिनाथ भगवान का दरबार लगा। राजदरबार का दृश्य अत्यन्त भव्य था। दरबार के मध्य में चक्ररत्न सुशोभित हो रहा था। देश-देश के राजा-महाराजा आ रहे थे और उत्तमोत्तम वस्तुएँ लाकर भेंट धरते थे।

ज्येष्ठ शुक्ला ४ के दिन भगवान के वैराग्य का और दीक्षाकल्याणक का दिन था। चक्रवर्ती महाराजा शान्तिाथ प्रभु एकबार दर्पण में देखते हैं, वे उसमें अपने दो रूप देखकर आश्चर्यचकित होते हैं और अन्तर्विचार करते हैं, वहाँ उनको जातिस्मरणज्ञान होता है, इससे वे एकदम वैराग्य को प्राप्त होते हैं और दीक्षा की तैयारी करते हैं। वैराग्य की खबर होते ही लौकांतिकदेव आकर

प्रभु की स्तुति करते हैं और उनके वैराग्य की पुष्टि करते हैं कि अहो प्रभो! धन्य है, आपकी पवित्र वैराग्य भावना को, इन समस्त संसारभावों से विरक्त होकर आत्मा के चिदानन्दस्वरूप में लीन होने के लिए आप जो चिन्तवन कर रहे हैं, उसे हमारी अत्यन्त अनुमोदना है। छह खण्ड के राजभोग को छोड़कर आप भगवती जिनदीक्षा धारण करने की तैयारी कर रहे हैं, वह वास्तव में हमारा अहो भाग्य है! प्रभो! आप शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त करो, और भव्य जीवों के लिए मोक्ष का द्वार खोलो। हे देव! आप तो स्वयंबुद्ध हो। आपको सम्बोधन करनेवाले हम कौन? आपके पवित्र वैराग्य की जय हो! पश्चात् दीक्षा कल्याणक मनाने के लिए इन्द्र पालकी लेकर जय-जयकार करते हुए आते हैं और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति भगवान शांतिनाथ प्रभु दीक्षा लेने के लिए तपोवन में जा रहे हैं, उउनके पीछे-पीछे वैराग्यभावना में मग्न भक्तसमूह चल रहे हैं। इस समय दीक्षाकल्याणक का स्तवन पढ़ा जा रहा था :–

''वंदों-वंदों परमविरागी, त्यागी जिनने रे.....
थाये जिन दीगम्बर, मुद्राधारी देव,
शांतिनाथ प्रभुजी, तपोवनमां संचरे रे...''

भगवान की दीक्षा का यह दृश्य अत्यन्त रमणीक और भावना से भरा हुआ था। वन में जाकर प्रभु श्री एक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। भव्यजन एकटक प्रभु की ओर देख रहे थे। भगवान ने वस्त्राभूषण उतारकर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण की और पश्चात् श्री कानजी स्वामी ने भगवान का केशलोंच किया। भगवान की दीक्षा के समय का दृश्य वैराग्यप्रेरक था। उस समय का प्राकृतिक वातावरण भी इस महान् वैराग्य प्रसंग को दीप्त कर रहा था – मानों भगवान के वैराग्य का दृश्य देखकर सम्पूर्ण आकाश वैराग्य से ओत-प्रोत हो गया हो और भगवान के ऊपर गंधोदक छिड़क रहा हो। दिगम्बर मुनि होने के पश्चात् प्रभु श्री आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ, पश्चात् वे मुनिराज वन में विहार कर गये।

भगवान की दीक्षाविधि पूर्ण होने के पश्चात् वन में ही पूज्य स्वामीजी ने दीक्षाकल्याणक से सम्बन्धित एक अपूर्व व्याख्यान दिया था, इस व्याख्यान में वैराग्य-भावना की तो झड़ी ही लग रही थी। पूज्य स्वामीजी वैराग्य की मस्ती में झूम रहे थे और अन्तर का वैराग्य प्रवाह वाणी द्वारा बाहर निकाल रहे थे.... श्रोताजन इस वैराग्यप्रवाह में डूब रहे थे।

व्याख्यान के पश्चात् वहीं तपोवन में सेठ श्री त्रिभोवनभाई, कानजीभाई और मूलजीभाई – इन तीनों ने अपनी-अपनी धर्मपत्नियों सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अङ्गीकार करके इस प्रसंग को दीप्त

किया था। इस प्रकार भगवान का दीक्षाकल्याणक मानकर, 'अहो! जिस पथ पर भगवान शांतिनाथ विचरे, उस पथ पर हम भी विचरण करें –ऐसा अपूर्व अवसर हमें कब प्राप्त होगा? इत्यादि प्रकार से भावना करते हुए भक्तजन नगर की ओर लौटे, उस समय पालकी में मात्र भगवान के केश थे, उन केशों को क्षीरसमुद्र में छोड़ दिया गया।'

दोपहर को 10 बजे के बाद श्री शान्तिनाथ मुनिराज आाहार लेने नगर में पधारे; आहारदान का शुभप्रसंग भाई श्री व्रजलाल फूलचन्द भायाणी के गृह हुआ था। भक्तजनों का उल्लास अपूर्व था। जैसे साक्षात् तीर्थंङ्कर भगवान विचरते हैं, वहाँ गंधोदक की वृष्टि होती है, उसी प्रकार यहाँ भी जब भगवान आहार के लिए पधारे, तब आकाश में से मन्दमन्द प्राकृतिक गंधोदक की वृष्टि हो रही थी।

अङ्कन्यास विधि

दोपहर १ बजे श्री जिनप्रतिमाओं पर अङ्कन्यास विधि करने के लिए श्री कानजी स्वामी पधारे। उन्होंने महा पवित्र जिनप्रतिमाओं पर पवित्र भावों और पवित्रहस्तों से अङ्कन्यास विधि की। प्रतिष्ठाविधान मैं इस विधि का बड़ा महत्व हैं, इसके पश्चात् ही प्रतिमाजी पूज्य होती हैं। इस पवित्र प्रसंग को भक्तजनों ने अन्यन्त उत्साह और मंगलजयनाद से शोभित किया था; तत्पश्चात् समस्त प्रतिमाओं पर नेत्रोन्मीलन विधि भी पूज्य स्वामीजी ने की थी।

केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव

दोपहर को ३ बजे भगवान का केवलज्ञानकल्याणक हुआ था। भगवान श्री शान्तिनाथ मुनि आत्मध्यान में मग्न थे; शुक्लध्यान की श्रेणी में पहुँचते ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ; उसी समय देवों ने आकार प्रभु की स्तुति की ओर समवशरण की रचना की। समवशरण के मध्य में भगवान विराजमान थे। उनके आगे धर्मचक्र चमक रहा था। राज्य-चक्रवर्तीपने को त्यागकर भगवान धर्मचक्रवर्ती हुए; बारह सभाएँ लगीं और भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा धर्म का उपदेश किया। इस प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनि का साररूप अद्भुत प्रवचन श्री कानजीस्वामी ने किया था। रात्रि को समवशरण स्थित भगवान की स्तुति हुई थी और पूज्य स्वामीजी का रिकार्डिंग हुआ व्याख्यान सुनाया गया था।

ज्येष्ठ शुक्ला ५ का दिन मन्दिर में भगवान की स्थापना और श्रुतपंचमी का पवित्र दिवस था। आज-दिन प्रातःकाल निर्वाण कल्याणक हुआ था। श्री शांतिनाथ भगवान सम्मेदशिखर से

निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, इसलिए सम्मेदशिखर पर्वत की रचना की गई थी। पर्वत पर भगवान योगनिरोध दशा में विराजमान थे, कुछ ही समय में भगवान निर्वाण को प्राप्त हुए। जीवनमुक्त भगवान देहमुक्त होकर अनन्त सिद्धों की बस्ती में जाकर विराजमान हुए। तुरन्त ही देवगण निर्वाण-कल्याणक मानने के लिए आये और अग्निकुमार देवों ने मुकुट द्वारा अग्नि संस्कार किया– इत्यादि दृश्य हुए थे। अग्नि-संस्कार के पश्चात् शेष भस्म लेकर भक्तजन अपने मस्तक पर चढ़ाकर भावना कर रहे थे कि ''हे प्रभो! आपज जिस पवित्रदशा को प्राप्त हुए वह पवित्रदशा हमें भी प्राप्त हो।''

इस प्रकार पंचकल्याणक पूर्ण हुए। हे तीर्थंङ्कर भगवान! आपके पंचकल्याणक हमारे आत्मा का कल्याण करें।

तत्पश्चात् प्रतिष्ठित श्री सीमंधर भगवान आदि जिनबिम्बों को श्री जिनमन्दिर में पधराया गया। इस समय भव्य स्वागत-यात्रा निकली थी। जिस समय भगवान मन्दिर में पधार रहे थे, उस समय का दृश्य अद्‌भुत था, भक्तों को ऐसा उल्लास था, जैसे साक्षात् श्री सीमंधर प्रभु महाविदेह से बिहार करके यहाँ मन्दिर में पधार रहे हों! लाठी के मुमुक्षु-मण्डल का उत्साह तो अपार था। भगवान मन्दिर में पधारे और पूज्य स्वामीजी ने पवित्र भावों से प्रभुजी का स्वागत करके भगवान को वेदी पर विराजमान किया। मन्दिर जय-जयकार से गूँज उठा था। पश्चात् सीमंधर भगवान की दाहिनी और महावीर स्वामी और बायीं ओर श्री आदिनाथ भगवान की प्रतिमाओं की स्थापना हुई। शांतिनाथ भगवान और सिद्ध प्रतिमाजी की भी स्थापना हुई। फिर मन्दिरजी के ऊपर ध्वजदण्ड और कलश चढ़ाये गये। इस समय भी आकाश से पानी की कुछ-कुछ बूँदें गिरकर मांगलिक सूचना दे रही थीं। इस प्रकार लाठी के मन्दिर में महा-पवित्र देवाधिदेव भगवन्तों की स्थापना हुई। लाठी का जिनमन्दिर अत्यन्त शोभायमान है और उसमें प्रतिष्ठित जिनबिम्बों की मुद्रा अत्यन्त भव्य तथा उपशमभाव मे निमग्न है।

श्री जिनेन्द्रप्रतिष्ठा के पश्चात् जिनमन्दिर के पास निर्मित स्वाध्याय मन्दिर में पवित्र श्रुतमूर्ति श्री समयसारजी की प्रतिष्ठा हुई और श्रुतपंचमी का पवित्र दिन होने से समयसारजी की पूजा की गई; इस समय पूज्य स्वामीजी ने स्वाध्याय मन्दिर में ''नमः समय-साराय'' पर प्रवचन किया था। दोपहर को सवालाख जपों की पूर्णाहुति हुई और शान्ति यज्ञ हुआ। शाम को रथयात्रा का दृश्य अद्‌भुत था। लाठी शहर में प्रथम बार ही ऐसी रथयात्रा निकली थी।

रात्रि को बालिकाओं ने एक अद्‌भुत संवाद किया था। सम्पूर्ण संवाद तत्त्वचर्चा से भरपूर

था। आठ-आठ वर्ष की बालिकायें भी सुन्दर तत्त्वचर्चा करती थीं। अनेक प्रकार की विविधता से परिपूर्ण संवाद सुनकर सभा प्रसन्न हो रही थी; बालिकाओं को सैकड़ों रुपये परितोषक में मिले; जो उन्होंने जिनमन्दिर को भैंट कर दिये।

इस प्रकार की जिनेन्द्र भगवान की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का पवित्र अवसर शान्तिपूर्वक निर्विघ्नतया समाप्त हुआ। सौराष्ट्र देश में श्री जिनेन्द्र-शासन की प्रभावना का ऐसा महान सुअवसर अत्यन्त उत्साहपूर्वक निर्विघ्न समाप्त कराने के लिए लाठी के समस्त मुमुक्षु मण्डल को धन्यवाद है। इस पवित्र प्रसंग पर लाठी शहर के राजमहल में एक 'मुक्तिनगर' बसाकर वहीं सम्पर्ण उत्सव मनाया गया था। भाई श्री बजुभाई और उनके स्वयं-सेवक मण्डल ने इस महोत्सव में सराहनीय सहायता–सेवा की थी। लाठी के ठाकुरसाहेब तथा अन्य सज्जनों की ओर से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ था। समस्त मुमुक्षु-मण्डल ने महान उत्साहपूर्वक इस सुअवसर को दीप्त किया था। इन्दौर के प्रतिष्ठाचार्य, संहितासूरि पं. श्री नाथूलालजी उत्साही एवं शान्तस्वभावी थे। उन्होंने अत्यन्त भक्ति-भावपूर्वक प्रतिष्ठाविधि करायी थी और पंचकल्याणक के प्रत्येक प्रसंग पर संक्षिप्त विवेचन करके समझाते थे, स्वामीजी के प्रवचनों से वे अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। कुछ भी भेंट स्वीकार किये बिना, इन्दौर से पधारकर उन्होंने प्रतिष्ठा महोत्सव की सर्व विधि निर्विघ्न समाप्त करायी, जिसके लिए उनका आभार माना जाता है। इन्दौर से श्रीमान् सरसेठ हुकुमचन्दजी साहब की इस प्रतिष्ठा-प्रसंग पर आने की अन्तरभावना थी; परन्तु अस्वस्थता के कारण नहीं आ सके।

उत्सव-काल में भी प्रतिदिन पूज्य स्वामीजी के आध्यात्मिक प्रवचन होते रहते थे। एक ओर श्री जिनेन्द्रभक्ति का उल्लास था और दूसरी ओर स्वामीजी निरन्तर तत्त्वज्ञान प्रवाहित करते थे। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति का सुन्दर मेल हुआ था। उत्सव तो अनेक होते रहते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान की मुख्यतापूर्वक ऐसे पवित्र उत्सव विरल ही होते हैं। परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामी के प्रताप से और बलवान प्रभावना योग से आज हजारों वर्ष पश्चात्, सौराष्ट्र देश में पुनः पवित्र जिनेन्द्रशासन की स्थापना हो रही है। पूज्य स्वामीजी के शुभहस्त से ऐसे पवित्र शासनप्रभावना के सैंकड़ों महान कार्य होवें और जिनेन्द्र-धर्मचक्र सर्वदा सर्वत्र प्रवर्तमान रहे। पूज्य स्वामीजी का प्रभावना उदय जगत् का कल्याण करे।

– जैनं जयतु शासनं –

आत्मज्ञान की महिमा

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

भगवान कहते हैं कि तू एक आत्मा है; अरिहन्त भी आत्मा हैं। भगवान कैसे हैं? ''सव्वणूणं सव्वदरिसिण'' अर्थात् हे भगवान! आप सर्व के देखने-जाननेवाले हो। किसी का कुछ करनेवाले नहीं हो और न किसी पर राग-द्वेष करनेवाले हो। ऐसे भगवान कहाँ से हुए? आत्मा में वैसी शक्ति थी, उसे प्रगट करके भगवान हुए। प्रत्येक आत्मा में ऐसी शक्ति है।

सीमंधर भगवान इस समय अरिहन्त हैं, और महावीर स्वामी इस समय सिद्ध हैं; उनके मन नहीं, वाणी नहीं, शरीर नहीं, पुण्य-पाप नहीं, किन्तु सबके जानने-देखनेवाले हैं। शरीर, मन, वाणी आत्मा के नहीं हैं, इससे वह पृथक् हो जाते हैं, यदि वे आत्मा के हों तो पृथक् नहीं हो सकते। राग-द्वेष भी आत्मा के नहीं हैं; यदि वे आत्मा के हों तो फिर भगवान के आत्मा में से कैसे दूर हों? जीव तो ज्ञान-दर्शन वाला है, ऐसे जीव को जानना चाहिए।

जैसे – स्वर्ण में जो ताँबे का भाग है, वह स्वर्ण से भिन्न जाति का है। उसी प्रकार आत्मा में जो राग-द्वेष दिखायी देते हैं, वह उसका स्वरूप नहीं है, इससे वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। जैसे तिल में तेल और उसका कूचा पृथक् है, गन्ने का रस और छिलका पृथक् है, इससे वह यथार्थ प्रतीति के द्वारा पृथक् हो जाता है। यह शरीर तो गन्ने के कूचे कि भाँति है, भीतर चैतन्य-रस पृथक् है।

भगवान की स्तुति में कहते हैं कि ''समाहिवरमुत्तमं दिंतु'' अर्थात् हे भगवन! मुझे उत्तमसमाधि का वर दो। समाधि किसे कहते हैं? आत्मा का भान करके उसमें स्थिर हो, उसका नाम समाधि है। भगवान कहीं किसी को समाधि नहीं देते, किन्तु आत्मा स्वतः पहचान करके भगवान की विनय करते हैं। प्रथम आत्मा का भान होने से सम्यग्दर्शन होता है, वह समाधि है। ऐसा सम्यग्दर्शन, गृहस्थदशा में रहनेवाले-भरतचक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, पाण्डव, रामचन्द्रजी इत्यादि को था। जीवों ने अनन्तकाल मं एक क्षणमात्र को भी ऐसा आत्मभान नहीं किया; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप करके चारों गतियों के अनन्तभव धारण किये, पुण्य करके स्वर्ग में अनन्तबार गया, किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ।

जिसे वीतरागदेव सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसकी यह बात है। मुनि होने से पूर्व और श्रावक होने से पूर्व आत्मभान कैसा होता है? उसकी यह बात है। श्रेणिक राजा को ऐसा ज्ञान था, इससे

वे भविष्य में तीर्थंङ्कर होंगे। इस समय नरक में होने पर भी ऐसा भान है। आत्मा, देह से पृथक् है और पुण्य-पाप से पार ज्ञानमूर्ति है– ऐसा भान यदि एक क्षणमात्र ही करे तो भव कट जाऐं।

यथार्थ प्रतीति होने के पश्चात् राग होता है, किन्तु शरीर का मैं कर सकता हूँ – ऐसा वह नहीं मानते। राग को अपना स्वरूप नहीं मानते। हमारा आत्मा रागरहित ज्ञान – आनन्दस्वरूप है – ऐसा भान है, उन्हें चौथे गुणस्थान की समाधि है। जीव ने अनन्तकाल में एकक्षण भी ऐसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं की है। अनन्तकाल में यह मनुष्यभव मिलता है, उसमें यही करने योग्य है।

जैसे भगवान सबके ज्ञाता हैं, किन्तु उनके राग-द्वेष नहीं है, उसी-प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता है, उसके राग-द्वेष हो भले, किन्तु वह राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञाता हूँ – ऐसा भान करे तो सम्यग्दर्शन होता है। श्रेणिक राजा के व्रत नहीं थे, त्याग नहीं था, तथापि तीर्थंङ्कर नामकर्म का बन्ध किया; यह किसका प्रताप? उन्हें सम्यग्दर्शन था, उसके प्रताप से आनेवाली चौबीसी में जगत् पूज्य प्रथम तीर्थंङ्कर होंगे।

ज्ञान आत्मा में भरा हुआ है; कहीं शास्त्र के पत्रों में ज्ञान नहीं है, वह तो जड़ हैं। जैसे नमक की डली में खरापन भरा हुआ है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान भरा हुआ है। पुण्य-पाप हो, वह भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है –ऐसा समझे तो सम्यग्ज्ञान है। ऐसा सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् पूजा–भक्ति का का शुभभाव आता है और भोगोपभोग का अशुभभाव भी आता है, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि यदि शुभाशुभ-दोनों भाव मेरा धर्म नहीं है। शुभराग होता है, वह पाप नहीं है, उसी प्रकार धर्म भी नहीं है, किन्तु वह पुण्य है। धर्मवस्तु उससे भिन्न है। पुण्य करके अनन्तबार देव हुआ, किन्तु यह न समझा कि धर्म क्या वस्तु है? इससे अनन्त-संसार में परिभ्रमण किया। यदि एक क्षणमात्र भी आत्मा को समझे तो संसार से पार हो जाऐ।

भगवान शांतिनाथ आदि तीर्थंङ्कर चक्रवर्ती थे। माता के गर्भ में आये, तभी से मति-श्रुत-अवधि, ऐसे तीन ज्ञानसहित आये थे। उनके राग था, अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुए थे, तथापि उपरोक्त आत्मभान था।

भगवान ने जैसा मार्ग है, वैसा कहा है, किन्तु उसे बनाया नहीं है। 'मग्ग देसयाणं' अर्थात् हे भगवान! आप मोक्ष का मार्ग दर्शानेवाले हो। भगवान तो मार्ग दिखानेवाले हैं, किन्तु चलना तो स्वतः को ही है; भगवान जैसा कहते हैं, उसे यदि एकक्षण भी समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

जब सीताजी के गर्भ में लव और कुश थे, उस समय भी उनको सम्यग्दर्शन था – आत्मभान था। रामचन्द्रजी ने सीताजी को वन में छोड़ने का हुकम दिया, किन्तु वहाँ भी उन्हें आत्मा का भान था। धर्मी जीव संसार में रहते हुए भी निर्लेप रहते हैं। जैसे – धायमाता बालक को खिलाती है, किन्तु अन्तर में समझती है कि यह बालक कमाकर मुझे नहीं खिलायेगा। उसी प्रकार धर्मी जीव को गृहस्थदशा में होने पर भी अन्तर में आत्मा का भान है कि यह शरीर-पुत्रादि मेरे नहीं हैं और जो विकार होता है, वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, यह कोई भी मुझे धर्म में सहायक नही हैं।

आत्मभान होने के पश्चात् राग हो, राजपाट हो, युद्ध करता हो, तथापि अन्तरङ्ग भान से धर्मात्मा च्युत नहीं होते। शांतिनाथ, कुँथुनाथ और अरहन्तनाथ – यह तीनों तीर्थंङ्कर चक्रवर्ती थे, माता के गर्भ में आये तभी से आत्मभान लेकर ही आये थे, तथापि राज्य में रहे, छहखण्ड को जीता – जैसा राग था; उसे अपनी निर्बलता समझते थे, किन्तु उस राग को अपना स्वरूप नहीं मानते थे, और एकक्षण भी आत्मा के भान से च्युत नहीं होते थे। ऐसे आत्मा को जाने बिना धर्म नहीं होता और न मुक्ति होती है। जैसे पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े हो जायें तो फिर उन्हें मिट्टी से नहीं जोड़ा जा सकता; उसी प्रकार जो एक बार भी आत्मा का भान करे, वह जीव अनन्त-संसार में परिभ्रमण न करे और धीरे-धीरे संसार से पार हो जायेगा। ऐसा भान आठ वर्ष की बालिका को भी होता है। महाविदेहक्षेत्र में इस समय श्री सीमंधर परमात्मा विराजमान हैं, वे तीर्थंङ्कर हैं, उनके समवशरण में इस समय आठ-आठ वर्ष के बालक आत्मा का ज्ञान करते हैं। भाई ! अनन्तकाल में आत्मा को जाने बिना तूने सबकुछ किया। तेरा स्वरूप तो गन्ने के रस समान मीठा है और पुण्य-पाप तो मैल है, छिल्लका है। अहो ! भगवान आत्मा का स्वरूप क्या कहता है ? शरीर नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, ज्ञानमूर्ति आत्मा है – ऐसा सुनकर अन्तरात्मा की महिमा की ओर उन्मुख होने से आठ वर्ष की बालिका को भी आत्मा का भान होता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह मन से नहीं जाना जाता। भगवान आत्मा मन से भी अगोचर है। मन के साथ युक्त हो तो राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प होते हैं; उसके आश्रय से चैतन्यजाति नहीं जानी जाती; चैतन्य के आश्रय से ही चैतन्य का ज्ञान होता है। जैसे विषपान करने से अमृत की डकार नहीं आती, उसी प्रकार मन के सम्बन्ध से जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह विकार है, उस विहार के द्वारा अविकारी आत्मा प्रगट नहीं होता। मन से काम ले तो कल्याण नहीं होता, किन्तु मन का अवलम्बन छोड़कर ज्ञानस्वभाव आत्मा को जाने तो कल्याण हो। आत्मा का सम्यग्दर्शन तो मन से पार है। जैसे बालक मिष्टान्न के टुकड़े के बदले में सोने का हार दे देता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव पुण्य की मिठास में आत्मस्वभाव को भूल जाता है। आत्मा में परिपूर्ण

ज्ञानशक्ति भरी है। जैसे लेंडीपीपल में चरपराहट भरी हुई है, वह घिसने से प्रगट होती है, उसी प्रकार आत्मा में परिपूर्ण ज्ञानशक्ति विद्यमान है, उसे जानकर उसमें एकाग्र हो तो केवलज्ञान प्रगट होता है। जैसे लेंडीपीपल को घिसने से चरपराहट प्रगट होती है, किन्तु चूहे की लेंडी को घिसने से चरपराहट प्रगट नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान-स्वभाव की पहचानकर उसमें एकाग्रता की क्रिया करे तो केवलज्ञान प्रगट हो, किन्तु शरीर की क्रिया से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता।

जैसे समुद्र में बाहर की हजारों नदियों के या बरसात के पानी से ज्वार नहीं आता, किन्तु जब उसका मध्य बिन्दु उछले उस समय ज्वार आता है; उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान का ज्वार किसी बाह्य क्रिया से नहीं आता, किन्तु अन्तरङ्ग स्वभाव का विश्वास करके उसमें एकाग्र हो तो ज्ञान प्रगट होता है। एक क्षण भी यदि अन्तर के पूर्ण चैतन्य की प्रतीति करे तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

सम्यक्त्व के प्रताप से पवित्रता

श्री गणधर देवों ने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को भी देवसमान कहा है। भस्म में छिपी हुई अग्नि की चिंगारी की भाँति वह आत्मा चांडाल देह में स्थिर होनेपर भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से पवित्र हो गया है – इससे वह देव है।

[रत्नकरण्ड श्रावकाचार : २८]

मोह की क्षय करने का उपाय

[गतांक से आगे]

सहजानन्द स्वभाव में उपयोग की पूर्ण लीनता न होने से विपरीतदशा हुई, तब राग-द्वेषरूप अशुद्ध उपयोग हुआ, उससे आत्मस्वरूप की रमणता में भंग पड़ता है। शुभवृत्ति होती है, उससे धर्मात्मा मुनि के अन्तर मे भी दुःख-खेद होता है। यदि स्वरूप की रमणता में ही स्थिर रहकर शुद्ध उपयोग प्रगट न करूँ तो प्रमाद से शुभ उपयोग में आ जाता हूँ और मेरे केवलज्ञान का कारणरूप अनुभव-चिन्तामणि चोरी चला जाता है। इससे मुझे रागद्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना योग्य है – ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

मोक्ष का उपाय

राग-द्वेष छोड़कर स्वाश्रयस्वभाव में अभेद होना, सो सम्यक्चारित्र है, और रागद्वेषरहित स्वाश्रयस्वभाव की श्रद्धा, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने से चैतन्य-चिन्तामणि की प्राप्ति हुई, किन्तु जितनी परोन्मुखता होती है, उतना ही चैतन्य-अनुभवरत्न चोरी चला जाता है। इसलिए सर्व शुभाशुभ से रहित होकर स्वरूप में सम्पूर्ण जागृत रहना ही मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है।

सच्चा प्रतिक्रमण

प्रथम अपने शुद्धात्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट करके मिथ्या-श्रद्धारूप महापाप से हट गया – वही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है, और पश्चात् शुद्धस्वरूप में स्थिरता प्रगट करके रागद्वेष से पीछे हटा – वह अव्रत इत्यादि का प्रतिक्रमण है। सर्वप्रथम मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण के बिना किसी भी प्रकार का प्रतिक्रमण होता ही नहीं। यहाँ पर सम्पूर्ण मोह का क्षय करके मोक्षदशा प्रगट करने की बात चल रही है। सम्यग्दर्शन होने पर भी यदि जीव राग-द्वेष को न छोड़े तो वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

धर्म और अधर्म

जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहन्त के यथार्थ स्वरूप को ही न जानें – वैसे जीवों के तो धर्म होता नहीं। पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानना और उससे लाभ मानना, सो मिथ्यात्वरूपी सबसे महान अधर्म है। अरिहन्त जैसा अपना परमार्थ स्वभाव जानकर, उसकी श्रद्धा करे अर्थात् पुण्य-पापरहित अभेद चैतन्यमय स्वभाव है, उसमें एकता करने से लाभ मानना और पुण्य-पाप से लाभ न मानना तो सम्यग्दर्शनरूपी प्रारम्भिक धर्म है।

पुण्य-पापरहित शुद्धात्मस्वरूप को जानने पर भी, पुण्य-पाप में उपयोग की एकता करना, सो चारित्र की अपेक्षा से अधर्म है और सम्यग्दर्शन प्रगट करके शुद्धात्मद्रव्य में ही पर्याय की एकता करना, सो चारित्र-धर्म है।

शुभोपयोग का तिरस्कार

कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े शहरों में यदि जेब बाहर रखें तो जेब ही कट जाती है, वैसे ही यदि आत्मस्वरूप में से बाहर उपयोग को घुमाएँ तो शुद्ध आत्मा का अनुभव चोरी चला जाता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् जितना शुभोपयोग में एकाग्र हो, उतना शुद्धता का भण्डार लुटता है। इससे, सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् भी जीव को राग-द्वेष दूर करके स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। आचार्यदेव ने यहाँ पर शुभ-उपयोग को तिलाञ्जलि देकर शुद्ध उपयोग की उग्रता बतलायी है।

सत् की प्ररूपणा करने का विकल्प, सो राग है और असत् को उखाड़ फैंकने का विकल्प, सो द्वेष है; इनसे शुद्ध उपयोग में भङ्ग पड़ता है। सत् की ओर के राग में और असत् की ओर के द्वेष में यदि धर्म माने तो वह मिथ्यात्व है। और सम्यग्दर्शन के पश्चात् उस राग-द्वेष की वृत्ति उठे, उसमें धर्मी जीव धर्म नहीं मानते, तथापि उस वृत्ति से शुद्ध चारित्र लुटता है; इसलिए उन शुभोपयोग के अंशों को भी छोड़ने के लिए मैं तीव्र पुरुषार्थ द्वारा जागृत रहता हूँ। यदि आचार्यदेव के सम्पूर्ण शुद्धोपयोग की जागृति हो तो 'मैं जागृत रहूँ' – ऐसी वृत्ति भी क्यों हों? 'मैं जागृत रहूँ'–ऐसी वृत्ति स्वतः ही अजागृतिरूप प्रमाद है।

आचार्यदेव के शुभवृत्ति प्रवर्तमान है, किन्तु उसे तोड़ने की भावना करते हैं। अहो! जिस प्रकार अरिहन्तों ने मोह का क्षय किया है, वैसे ही हम भी इसी समय सम्पूर्ण शुद्ध उपयोग जागृत करके मोह का सर्वथ क्षय करेंगे और अरिहन्त जैसा शुद्ध आत्मानुभव करेंगे। हमारे शुद्ध स्वभाव की पूर्ण स्थिरता को शुभोपयोग लूट लेता है, इससे उस शुभोपयोगरूप मोह को नष्ट करने के लिए अपने स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। अहो! आचार्य भगवान की अन्तरदशा कैसी है।

धर्मात्मा जीव को शुभोपयोग के समय सत्-असत् का विवेक कैसा होता है?

गृहस्थदशा में विद्यमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को यद्यपि शुभाशुभराग होता अवश्य है, किन्तु उस राग को तोड़कर शुद्ध-उपयोग की ही भावना उनके होती है। राग की भूमिका में सत् प्ररूपणा के प्रति बहुमान न आये, और असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह मिथ्या है'– इस प्रकार अन्तर में तिरस्कार (उखाड़ फेंकने का भाव) न आये तो उस जीव को सम्यक्दर्शन की भूमिका का आश्रय

भी नहीं रहता। किन्तु जहाँ तक वह वृत्ति रहती है, तब तक स्वरूपस्थिरता की भूमिका रुकी रहती है।

सत् के प्रति जो राग है, वह भी लुटेरा है, वह मोह के क्षय करने में कुछ भी सहायक नहीं है, उससे भी जीव को खेद होता है। यदि वह वृत्ति छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, तभी मोह का क्षय होता है। किन्तु जब राग-द्वेष को सर्वथा छोड़कर स्वरूपस्थिरता न होती हो, उस समय यदि सत् का बहुमान छूटकर किसी अन्य का बहुमान आये तो उस जीव का सम्यक्त्व ही लुट जाता है। अपने को वीतरागता नहीं हुई है और राग-द्वेषरूप विकल्प उठते हैं – तथापि यदि सत्-असत् का विवेक करके सत् के बहुमान का और असत् को उखाड़ देने का विकल्प न उठे तो वह जीव मिथ्या-दृष्टि है। असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह असत् है' – ऐसा ध्यान में आता है, तथापि जिस जीव के अन्तरङ्ग से उसके उत्थापन की वृत्ति नहीं उठती और अन्यत्र राग-द्वेष होता है, उस जीव को सम्यग्दर्शन की भूमिका के राग का विवेक नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन भूमिका ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जब विकल्प होता है, तब उसकी उन्मुखता सत् के बहुमान की ओर ही होती है। यदि विकल्प तोड़कर शुद्धोपयोग से आत्मा में लीन हो जाये तो पूर्णता प्रगट होती है। उसे तो किसी के प्रति राग-द्वेष की वृत्ति होती ही नहीं; किन्तु सम्यग्दर्शन के पश्चात् आस्थिरदशा में जब राग-द्वेष की वृत्तियाँ होती हों, उस समय सत् का बहुमान और विवेक तो होना ही चाहिए।

राग-द्वेष को दूर करने के लिए जागृत रहना योग्य है।

जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती है, वे सम्यक्श्रद्धा को हानि नहीं पहुँचातीं, किन्तु सम्यक्चारित्र को लूटती हैं। केवलज्ञान की तैयारीवालों छट्ठे-सातवें गुणस्थान में विद्यमान मुनिराज के भी शुभाशुभ वृत्तियाँ, सम्पूर्ण शुद्धचारित्रदशा को रोक देती हैं – केवलज्ञान को रोक देती हैं। इसलिए यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मुझे राग–द्वेष को दूर करने के लिए जागृत रहना योग्य है।

क्या करने से जीव मुक्त होता है ?

भावार्थः– ''८० वीं गाथा में दर्शाये गये उपाय से दर्शनमोह को दूर करके अर्थात् सम्यक्दर्शन प्राप्त करके, जो जीव शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र के प्रतिबंधक राग-द्वेष को छोड़ता है, पुनः पुनः राग-द्वेषभावरूप परिणमित नहीं होता, वही अभेदरत्नत्रयपरिणत जीव शुद्धबुद्ध एकस्वभाव आत्मा को प्राप्त करता है– मुक्त होता है।''

रागादि से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप को जानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् राग-द्वेष को दूर करने की बात है। जिसने रागादि से भिन्न आत्मस्वरूप को जाना ही नहीं, वह जीव राग-

द्वेष को किस प्रकार दूर करेगा? इससे प्रथम ही ८०वीं गाथा में सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय बतलाकर, फिर राग-द्वेष को दूर करने की बात की है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि स्वरूपानुभव में ही जीव अपने उपयोग को लीन करता है, तो उसके पुनः पुनः रागादि नहीं होते; वह जीव अभेदरत्नत्रयरूप परिणमित हो गया है, उसके राग–द्वेषरूप विकल्प टूटकर स्वरूप की एकाग्रता होने से रत्नत्रय का भेद टूटकर उसका अभेदत्व हुआ, अर्थात् उसे स्व में ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता हुई है। ऐसा वह जीव शुद्ध-बुद्ध एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को प्राप्त करता है, अर्थात् वह केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होता है।

जीव को स्वरूप में अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।

'इससे जीव को सम्यग्दर्शन और सरागचारित्र प्राप्त करके भी, राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।' द्रव्य से, गुण से और पर्याय से मेरा स्वरूप अरिहन्त जैसा है, राग या अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा बराबर समझकर, प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए, और इस सम्यग्दर्शनपूर्वक दीक्षा लेकर – शुद्धोपयोग द्वारा तीन प्रकार के कषायों का नाश करके, छट्ठा, गुणस्थान प्रगट करे तो भी वहाँ जो राग का अंश है, वह आत्मा की शुद्धता को रोकता है, इससे उस राग को दूर करने के लिए अर्थात् प्रमादरूपी चोर से शुद्धोपयोग का रक्षण करने के लिए स्वरूप में अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।

क्षायिकसम्यक्त्व और क्षपकश्रेणी

श्री आचार्यदेव ने पूर्णता की ही भावना भायी है। प्रथम ८०वीं गाथा में क्षायिकसम्यग्दर्शन की बात की है और पश्चात् इस गाथा में क्षपकश्रेणी की बात की है। अहो! आचार्यदेव अपनी अन्तरभावना को बराबर लड़ाते हैं॥८१॥

तीर्थङ्करों ने क्या किया और क्या कहा?

मोह का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करने का उपाय आचार्यदेव ने दो गाथाओं में कहा है। अब, इस गाथा में समस्त तीर्थङ्करों को साक्षीरूप से रखकर आचार्यदेव कहते हैं कि जो उपाय यहाँ वर्णित किया है, वहीं उपाय समस्त तीर्थङ्करों ने स्वतः किया है और जगत के भव्य जीवों को भी उन्होंने इसी का उपदेश किया है। उन्हें नमस्कार हो।

अब, यही एक (जो पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित किया है) भगवन्तों द्वारा स्वतः अनुभवन करके दर्शाया हुआ निःश्रेयस (मोक्ष) का परमार्थिक पन्थ है – इस प्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं :–

सव्वे वि य अरहन्ता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा तेणमो तेसिं॥८२॥
अरहन्त सौ कर्मो तणे, करी नाश अेज विधि वड़े,
उपदेश पण अेम ज करी, निर्वृत थया; नमुं तेमने।

अर्थ :– सभी अरहन्त भगवन्तों ने इसी विधि से कर्मोशों का (ज्ञानावरणीयादि कर्मभेदों का) क्षय करके तथा (अन्य सबको भी) इसी प्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त किया है। उनको नमस्कार हो।

उपर्युक्त ८२वीं गाथा का विस्तृत प्रवचन आगे दिया जाएगा। साथ ही ८०-८१-८२ तीनों गाथाओं का सार भी आगे दिया जाएगा। इन गाथाओं में सभी तीर्थङ्करों के उपदेश का सार आ जाता है। समस्त तीर्थङ्करों ने क्या किया और उपदेश में जगत को क्या कहा? वह उनमें स्पष्टरूप से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है।

तीर्थङ्करों के पथ पर

[गतांक से आगे]

शुद्धोपयोग ही अरहन्तों का मार्ग है

स्वतः भगवान होने के लिए, भगवान के समान अपने आत्मा की पहचान करना चाहिए। पुण्य-पापरहित ज्ञानानन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप जो शुद्धोपयोग है, वही मोक्ष के लिए एकमात्र उपाय भगवान ने कहा है। इससे विरुद्ध जो अन्य उपाय कहता हो, वह अरहन्तों के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा स्वतः देखे हुए, किये हुए और उपदेशित वस्तुस्वरूप के नियम को जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और मोह दूर नहीं होता। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसा भगवान ने जाना है, और विकार को दूर करके शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की है। जगत के जीवों को ऐसे शुद्धस्वरूप का उपदेश किया है। इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान 'मग्ग देसियाणं' मार्गदर्शक हैं। भगवान ने मोक्षमार्ग जैसा था, वैसा ही दिखाया है, कोई नवीन मार्ग नहीं बनाया है।

जो मार्ग हमारा है, वही तुम्हारा भी है

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! भगवान की वाणी परम विश्वास योग्य है। भगवान कहते हैं कि, स्वभाव के आश्रय से मोह-राग-द्वेष का क्षय करना ही मोक्षमार्ग है; कोई राग, मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है। पंचमकाल में जो हीन पुरुषार्थी जीव होंगे, उनके लिए भी यही एक धर्म का मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। हमारी भाँति दूसरे मुमुक्षुओं को भी भविष्यकाल में यही मार्ग है। हममें और तुममें वास्तव में कोई अन्तर नहीं है; हम भी आत्मा हैं और तुम भी आत्मा हो ! हमारा स्वरूप पुण्य-पापरहित और तुम्हारा स्वरूप भी पुण्य-पापरहित है।

तुम्हारी पर्याय में पुण्य-पाप होते हैं, किन्तु हम कहते हैं कि वह विकार तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इसलिए विकाररहित अपने पूर्ण स्वरूप को समझकर, उसका आश्रय करो – यही मोक्ष का पंथ है। जैसे सभी सिद्धों का स्वरूप एक ही प्रकार का है, उसी प्रकार सभी मुमुक्षुओं को सिद्ध होने का उपाय भी एक ही प्रकार का है।

स्वाश्रयभाव ही मोक्षमार्ग है।

स्वाश्रय अर्थात् अपने शुद्धात्मा का आश्रय, स्वभाव में एकता। स्वाश्रय, सो सम्यग्दर्शन-

सम्यग्ज्ञान है और वही सम्यग्चारित्र है। इस प्रकार स्वाश्रय ही मोक्षमार्ग है; जो पराश्रयभाव होते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभपरिणाम भी पर के आश्रय से होते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे ही उपाय से भगवान अरहन्त हुए और स्वतः इसी प्रकार का उपदेश दिया। श्री कुन्दकुन्द भगवान स्वतः स्वाश्रित मोक्षमार्ग का अनुभव करके उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो उपाय हमने बताया है, वही उपाय सभी तीर्थंङ्करों ने किया था और उपदेश में भी वही कहा था। वर्तमान में स्वतः स्वभाव स्वाश्रित निर्णय किया, उसमें त्रिकाल का निर्णय आ जाता है।

भगवान क्या करके मोक्ष को प्राप्त हुए?

पूर्ण शुद्ध उपयोग प्रगट होने से पूर्व व्यवहाररत्नत्रयरूप राग आता अवश्य है, किन्तु उसके द्वारा कर्मों का क्षय नहीं होता। निश्चय-स्वभाव के आश्रय से कर्म का क्षय होकर केवलज्ञान होता है– ऐसा स्वतः आत्मा में अनुभव करके और उसी प्रकार सबको उपदेश करके अरिहन्त प्रभु निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

तीर्थंङ्करों ने जगत के जीवों को उत्तराधिकार में ''स्वाश्रित मोक्षमार्ग'' दिया है

भगवान मोक्ष जाने से पूर्व जगत के मुमुक्षु जीवों को उत्तराधिकार में मोक्ष का उपाय सौंप गये हैं। हम इस उपाय से मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं और जगत के मुमुक्षु भी इसी उपाय से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जैसे अन्तिम समय पिता अपने पुत्र को धन-सम्पत्ति सौंप देता है, और सीख देता है, उसी प्रकार यहाँ परम धर्मपिता सर्वज्ञदेव परम वीतराग आप्तपुरुष, मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व (सिद्ध होने से पूर्व) तीर्थंङ्कर पद पर आरूढ़ होकर दिव्य उपदेश द्वारा जगत के भव्यजीवों को मोक्ष का उपाय दर्शाते हैं – उनके स्वभाव की सम्पत्ति सौंपते हैं। हे जीवों! तुम्हारा आत्मा सिद्ध-समान शुद्ध है, उसे जानकर उसकी शरण लो! स्वभाव की शरण, सो मुक्ति का कारण है, बाह्य का आश्रय बंध का कारण है। धर्मपिता तीर्थंङ्कर ऐसा स्वाश्रित मोक्ष का पथ बतलाकर सिद्ध हुए हैं। अहो! उन्हें नमस्कार हो!

साधक आत्मा के परमपिता श्री तीर्थंङ्कर देव हैं, वे सलाह देते हैं कि हे जीवो! आत्मा को जाने - पहचानो। सत् पदार्थ आत्मा स्वाधीन, वह पराश्रयरहित स्वतः से परिपूर्ण है।

भगवान को स्वाश्रयलाभ की पूर्णता होने से केवलज्ञान होता है। उस समय समवशरण की रचना होती है, दिव्यवाणी ॐ वीतरागभाव से खिरती है और वह उपदेश बारह-सभाओं के जीव सुनते हैं। भगवान की वाणी में ऐसा उपदेश है कि – भाई! आत्मा को पहचानो! सर्वप्रकार से आत्मस्वरूप का ही आश्रय करो, वह मुक्ति का मार्ग है। प्रथम भगवान ने स्वतः ऐसे उपाय से

पूर्णदशा प्रगट की और पश्चात् भव्यों को ऐसा ही उपदेश देकर प्रभुश्री परम कल्याणस्वरूप मुक्ति को प्राप्त हुए। इसलिए मुक्ति का यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। तीर्थंङ्करों ने दुंदभी के नाद के बीच दिव्यध्वनि से यह एक ही मार्ग जगत के जीवों को दर्शाया है। यहाँ पर आचार्यदेव स्वतः वर्तमान में अनन्त तीर्थंङ्करों के उपदेश की घोषणा करते हैं। जैसे बड़ा भाई छोटे भाई से कहता है कि 'अपने पिताजी तो ऐसा कह गये हैं;' वैसे ही आचार्यदेव जगत के जीवों से कहते हैं कि परमपिता अरिहन्त भगवान इस प्रकार से मुक्ति का मार्ग कह गये हैं।

स्वाश्रय को स्वीकार करनेवाला जीव कैसा होता है?

जिसने अरिहन्त समान अपने आत्मा को स्वीकार किया और स्वाश्रयभाव को स्वीकार किया, उस जीव ने वास्तव में रागादि का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ही आश्रय लिया है। जिसने ज्ञानस्वरूपी आत्मा का आश्रय लिया है, उसके मोह का क्षय होकर मुक्ति हुए बिना रहती ही नहीं; उसे कर्म की अथवा काल की शंका नहीं पड़ती। जिसने स्वभाव का आश्रय नहीं किया, उसी जीव को ऐसी शंका पराश्रय से होती है कि अभी मेरी मुक्ति का काल ही नहीं आया होगा तो? मेरे कर्म निकाचित्त होंगे तो? अभी अनन्त भव शेष होंगे तो? किन्तु जिसने अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय किया है– श्रद्धा-ज्ञान किये हैं, वह जीव, काल अथवा कर्म का आश्रय करता ही नहीं; उसके स्वभाव के आश्रय से मुक्ति का काल पक ही गया है, और कर्म की स्थिति भी पक गई है।

जिनशासन में स्वाश्रय के पुरुषार्थ का आदेश है, पराश्रय का नहीं

'जिस जीव की भवस्थिति पक चुकी है, उसके लिए यह स्वाश्रय का उपदेश है'– ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते। काल का आश्रय नहीं बतलाते, किन्तु आत्मा का आश्रय बतलाते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा का आश्रय करे, उसकी भवस्थिति पक ही गयी है। यदि तू स्वाश्रय का पुरुषार्थ कर तो तेरी मुक्ति है और यदि वह पुरुषार्थ नहीं करेगा, तो तेरी मुक्ति नहीं होगी। जिसने काल की या कर्म की ओट ली, उसने पर का आश्रय लिया है। पर के आश्रय से भगवान ने मुक्ति नहीं कही है।

प्रश्न :– जिसके अर्धंपुद्गलपरावर्तन संसार शेष हो, उसे सम्यग्दर्शन होता है –ऐसा शास्त्रों में आता है या नहीं?

उत्तर :– वहाँ भी कोई पराश्रय नहीं बतलाया, किन्तु स्वभाव का ही आश्रय बतलाया है। सम्यग्दर्शन की महिमा बतलायी है कि – जो जीव स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट

करे, उस जीव के अर्द्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार तो नहीं ही होता। जो स्वभाव का आश्रय करे, उसके संसार की लम्बी स्थिति होती ही नहीं। स्वाश्रय से ही निर्वाण है–ऐसा भगवान ने कहा है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग में कोई अन्य पदार्थ आड़े आयें – ऐसा नहीं है।

जिनेन्द्र देवों ने आत्मस्वभाव की ओर से पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त की है और दिव्यध्वनि में जगत के जीवों को पुरुषार्थ का ही उपदेश किया है। हे जगत के जीवो! संसार-समुद्र से पार होने के लिए सच्चा पुरुषार्थ करो! जो जीव श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उनकी तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके हैं और कर्म का उपशमादि भी हुआ है। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उन्हें तो अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। और जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करते, उनके तो काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है, तथा कर्म का उपशमादि भी नहीं है। इसलिए जो पुरुषार्थ नहीं करता, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जिनेश्वर देवों ने स्वाश्रय का पुरुषार्थ किया और वे उसी का उपदेश भी देते हैं। उनके स्वाश्रयपुरुषार्थ करने के उपदेश को सुनकर जो जीव वैसा करते हैं, वे अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिन्हें अपने स्वभाव की पूर्णता का सन्तोष नहीं है – विश्वास नहीं है, वही पर का आश्रय करते हैं, वे जीव कभी बंधन से मुक्त नहीं होते। भगवान ने तो आत्मा का पूर्णस्वभाव बतलाकर उसी के आश्रय का पुरुषार्थ करने को कहा है। वैसा न मानकर विपरीत माने तो मुक्ति कहाँ से होगी?

सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन्हीं जैसा पुरुषार्थ करो!

शरीरादि स्वस्थ रहें या अशक्त रहें, उनका आश्रय छोड़; देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय छोड़, राग का आश्रय छोड़ और क्षणिक पर्याय का आश्रय भी छोड़ दें; सम्पूर्ण स्वभाव को जानकर उसका आश्रय कर! अपने आत्मा में विकार की एकता न करके जैसा स्वभाव है, उसे वैसा ही–यथावत् रखे तो तेरी मुक्ति हो। अपने आत्मा को सर्वज्ञ समान जानकर तू सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन जैसा पुरुषार्थ कर। सर्वज्ञदेव ने स्वाश्रय किया है, उसी प्रकार तू भी अपने आत्मा का स्वाश्रय कर। अज्ञानी जीवों की आड़ लेकर पराश्रय मत कर। दिवालिया मनुष्य दूसरे दिवालिया की आड़ लेकर कहता है कि उसने तो रुपये में छह आने देकर ही चुकाया है और मैं तो आठ आने दे रहा हूँ; किन्तु जो साहूकार हैं, वह वैसा नहीं करते; वे पूरा रुपया देकर ही चुकाते हैं। उसी प्रकार भगवान का भक्त साधक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो भगवान जैसा ही अपने को मानकर पूर्ण स्वाश्रय का पुरुषार्थ करता है। अज्ञानी जीव पराश्रय को ही ढूँढ़ते हैं। धर्मीजीव काल अथवा कर्म की ओट लेकर पुरुषार्थ को निर्बल नहीं बनाते, पराश्रय को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अपने

पूर्णस्वभाव की ओट लेकर पूर्णता का पुरुषार्थ ही करते हैं। पुरुषार्थहीन जीव पराश्रय में रुकते हैं, वे अपने घर रहें; मैं तो अपने स्वभाव का आश्रय करके पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करनेवाला हूँ। मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है– ऐसी आचार्यदेव इस गाथा में घोषणा कहते हैं।

अपना आत्मा वर्तमान में ही परिपूर्ण भगवान जैसा है, धर्मात्मा जीव उसी का आश्रय करते हैं। जो स्वभाव का आश्रय करते हैं, वे विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते, और जो विकार को अपना स्वरूप मानते हैं, वे कभी भी विकार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करते, और उनके स्वाश्रय का पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता। पूर्व का विकार वर्तमान में बाधक हो अथवा पूर्व के अच्छे संस्कार हों, तभी इस समय धर्म हो सकता है– इस प्रकार धर्मात्मा जीव पूर्व पर्याय का आश्रय नहीं करते, किन्तु अपना स्वभाव इस समय भी पूर्ण है, इसे स्वीकार करके उसी का आश्रय करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होते हैं। यही मोक्ष का उपाय है। यह 'पंचमकाल है, इसलिए अभी पूर्ण पुरुषार्थ नहीं होता।' –ऐसा नहीं है। किन्तु जीव स्वतः स्वाश्रय में सम्पूर्णरूप से स्थिर नहीं हो सकता – उस अपनी पर्याय के कारण पुरुषार्थहीन है। स्वाश्रय की पूर्णता नहीं करता, इसलिए मोक्ष नहीं होता।

स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग किसी काल में नहीं है।

भविष्य के मुमुक्षुओं को भी तीर्थंङ्करों ने इसी प्रकार के स्वाश्रित मोक्षमार्ग का उपदेश किया है। भविष्य में होनेवाले तीर्थंङ्कर भी ऐसा ही उपदेश करेंगे। भविष्य में जो तीर्थंङ्कर होंगे, वे भी प्रथम तो मुमुक्षु होकर भगवान का उपदेश सुनकर ही होंगे, इसलिए उनका समावेश भी मुमुक्षुओं में हो जाता है। पंचमकाल में अथवा अनन्तकाल में समस्त जीवों को अपने आत्मस्वभाव के आश्रय से अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं हैं। अन्य सम्प्रदायों में तो कभी मोक्षमार्ग होता ही नहीं; सत्य जैन-सम्प्रदाय में भी किसी जीव को निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से, व्यवहार के आश्रय से अथवा किसी संयोग के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है। शुद्ध वस्तुस्वभाव के आश्रय से ही जैनमत में ही मोक्षमार्ग है। सभी तीर्थंङ्करों ने ऐसा ही किया है और ऐसा ही कहा है, इससे यही निर्वाण का मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है– ऐसा बराबर निश्चित् होता है।

आचार्यदेव स्वतः को प्रगटे हुए स्वाश्रय की निःशंक घोषणा करते हैं

''अथवा, प्रलाप से बस हो! हमारी मति व्यवस्थित हुई है;'' तीर्थंङ्करों ने जो उपदेश किया, सो तो किया ही है; मैंने यह निश्चय करके कि अपने आत्मा में स्वाश्रय से ही मुक्ति होती है, स्वाश्रयभाव का अंगीकार किया है। इसलिए अब विशेष विकल्पों से बस हो, बस हो! मेरी मति

स्वाश्रय में स्थिर हुई है। 'भगवान अरिहन्तों ने ऐसा किया और इस प्रकार उपेदश दिया' – ऐसे पर की ओर के विकल्पों से अलम्-अलम् बस हो! स्वभाव की प्रतीति और आश्रय के द्वारा विकल्प तोड़कर ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर हुआ है। अब मेरी मति में स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य का अवकाश नहीं है। स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कुछ मानने का अवकाश नहीं है, और यदि विकल्प उठे, तो स्वाश्रय के अतिरिक्त किसी अन्य की प्ररूपणा का अवकाश ही नहीं है। अहो! मेरे आत्मा ने अन्तरङ्ग से स्वाश्रय की स्वीकार करे, वह भाव प्रगट किया है। स्वभाव का आश्रय किया, वह कभी भी बदलनेवाला नहीं है, और पराश्रय की श्रद्धा कभी नहीं होगी। जो स्वभाव के आश्रय का निश्चय किया है, उसी निश्चय के मंथन से स्वरूपस्थिरता की पूर्णता प्रगट करके, मोह का सर्वथा क्षय करके हम केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं– इस प्रकार आचार्यदेव अपनी निःशंकता की घोषणा करते हैं। स्वतः को स्वभाव का बराबर निश्चय हुआ है और मति व्यवस्थित हुई है – ऐसी निःशंक खबर छद्मस्थ जीव को पड़ती है। जिस क्षण पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय किया, उसी क्षण स्वाश्रय की शांति का स्वतः को ही वेदन होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरिहन्त भगवान के समान अपने चैतन्यमूर्ति स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके हमने अपने ज्ञान को स्थिर किया है, और वह हमने अपने अनुभव से जाना है। अब हमारी मति में परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जिसने स्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को स्वभाव में स्थिर किया है, उसने स्वाश्रित मोक्षमार्ग को अंगीकार किया है; स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ जो भाव है, वह निरन्तर अभेदरूप से स्वभाव के साथ स्थिर रहता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अपने स्वभाव का आश्रय किया है, इससे मोह का क्षय करके अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान प्रगट करनेवाले हैं। जिस प्रकार अरिहन्त मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही हम भी इसी प्रकार का पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। भगवन्तों को नमस्कार है।

आचार्यदेव नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे भगवान! मैं तुम्हारे पथ पर चला आ रहा हूँ

स्वतः स्वाश्रय में मति स्थापित की है, परन्तु अभी छट्ठे गुणस्थान में राग की वृत्ति उठती है; इससे आचार्यदेव, भगवान की ओर के उल्लास को प्रगट करते हुए कहते हैं कि अरिहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो! अहो नाथ! आपने स्वभाव के आश्रय से मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही मैं भी आपका उत्तराधिकार लेने के लिए स्वाश्रय से आपके पीछे चला आ रहा हूँ। अहो! जिन्होंने ऐसा पूर्ण स्वतन्त्र स्वाश्रितमार्ग बतलाकर अनन्त उपकार किया है, उन भगवन्तों को मैं नमस्कार करता हूँ – अर्थात् मैं भी इस स्वाश्रयमार्ग को ही अंगीकार करता हूँ। भगवान के चरणकमलों में हमारा नमस्कार हो। आचार्यदेव स्वतः अपने मोक्ष के लिए उत्साह और

उल्लास प्रगट करते हैं कि हे प्रभो! जिस प्रकार आपने मुक्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार हम भी मोक्ष के मार्ग पर हैं, हम भी केवलज्ञान प्रगट करेंगे और वही उपदेश करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। दूसरा क्या कहें, भगवन्तों को नमस्कार हो! जिन जीवों के स्वाश्रय की रुचि हो और पराश्रय की रुचि दूर हो चुकी हो, वही जीव भगवन्तों को नमस्कार करता है। वास्तव में भगवान ने जिस स्वाश्रयमार्ग का उपदेश दिया है, वैसा ही समझकर अपने में भी वैसा ही स्वाश्रय प्रगट करना, सो भगवान को नमस्कार करना है।

प्रथम धर्म सम्यग्दर्शन, और उसे प्रगट करने का उपाय

अरिहन्त भगवान के जैसे शुद्ध-द्रव्य, शुद्ध गुण, और शुद्ध पर्याय है; वैसे ही यह आत्मा भी द्रव्य, गुण और पर्याय से शुद्धस्वरूपी है। द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्ध चैतन्य-स्वभाव की श्रद्धा करना, सो सम्यग्दर्शन है। जो राग-द्वेष होता है, वह द्रव्य में नहीं, गुण में नहीं और पर्याय का स्वरूप भी वह नहीं है। यदि पर्याय को शुद्धस्वभाव में अभेद करे तो पर्याय में विकार नहीं होता। जैसे अरिहन्त के स्वरूप में राग–द्वेष नहीं है, उसी प्रकार इस आत्मा के स्वरूप में भी नहीं है। इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके, विकाररहित द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्धात्मा को जानने से मोह का क्षय होता है और पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यही प्रथम धर्म है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की ओर लक्ष्य रहे, वह राग है; धर्म नहीं। अपने आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना भी राग है। एक अभेदवस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे तीन भेद परमार्थ से नहीं हैं। रागरहित और भेदरहित आत्मस्वरूप की प्रतीति, सो धर्म है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं और पर्याय में विकार है – ऐसे भेद करके उसके विकल्प में रुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। पर्याय में दोष है, वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरिहन्तों के आत्मा में वह नहीं है। इसलिए उस क्षणिक, विकाररहित सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में – लक्ष्य में लेना, सो धर्म है। जितना केवली भगवान के आत्मा में हो, उतना ही इस आत्मा का स्वरूप है, और जितना अरिहन्त के आत्मा में न हो, उतना इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। केवली भगवान के दया-भक्ति के भाव नहीं होते, इससे वे भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं।

(अपूर्ण)

शांति का उपाय

[गुजराती समयसार गाथा ३९० से ४०४]

धर्मात्मा जीव आत्मा के स्वभाव को कैसा जानते हैं – यह उसकी बात कही जा रही है। जिसे धर्म करना हो, उसे अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ मूल्य जानना पड़ेगा। ज्ञान में जिसकी महिमा हो, उसी में ज्ञान एकाग्र होता है। यदि पर की महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है और आत्मा की महिमा को समझकर यदि वहाँ एकाग्र हो तो वह धर्म है। जैसे– जिन जीवों को विषयों में या लक्ष्मी इत्यादि में सुखबुद्धि हुई है, वे जीव उसमें एकाग्र होते हैं, जीवन की चिन्ता न करके वे विषयों में लीन हो जाते हैं, क्योंकि उनके ज्ञान में उनकी महिमा भासित हुई है, वैसे ही आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनन्त सुखस्वरूप है, पर से भिन्न है – उस स्वभाव की महिमा यदि ज्ञान में आये तो सबसे प्रयोजन छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो और यथार्थ शांति प्रगट हो; इसका नाम धर्म है। किन्तु यदि ज्ञान में ज्ञात होनेवाले अल्पज्ञान जितना ही आत्मा का मूल्यांकन करे तो वह ज्ञान परविषयों में और पर्यायबुद्धि में ही रुक जायेगा, किन्तु वहाँ से हटकर पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा और शान्ति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य! यदि तुझे शांति प्रगट करना है, तो वह शांति परवस्तु में से नहीं आयेगी, परवस्तुओं के सन्मुख देखने से नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्याय की ओर देखने से नहीं आयेगी, किन्तु यदि उन सबका लक्ष्य छोड़कर अपनी वर्तमान अवस्था को त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में एकाकार कर तो त्रैकालिक स्वभाव के आधार से अवस्था में परिपूर्ण शांति प्रगट हो।

शब्दादि विषयों में किंचित् ज्ञान नहीं है – इससे उनसे तो आत्मा भिन्न है, और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है – आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं है – ऐसा भेदज्ञान करके यदि स्वभावोन्मुख हो तो स्वभाव के आश्रय से जीव को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट हो और अल्पकाल में ही भव का अन्त आ जाये; इसके अतिरिक्त जो मति-श्रुतज्ञान परलक्ष्य से ही कार्य करे, वह मिथ्याज्ञान है। स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रगट किये बिना कोई जीव कषाय को मन्द करे तो उसे पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध हो और साथ ही उसी समय सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व से अनन्त पाप बन्ध करे और अनन्त भव बढ़ जायें।

सम्यक्त्व की आराधना

''ज्ञान, चारित्र और तप- इन तीनों गुणों को उज्जवल करनेवाली यह सम्यक्श्रद्धा, प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनायें एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधकभाव से प्रवर्तमान रहती हैं। इस प्रकार, सम्यक्त्व की अकथनीय और अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनन्तानन्त दुःखरूप अनादि–संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के अर्थ, हे भव्यो! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो! प्रतिसमय आराधो!''

[आत्मानुशासन]

जीव को कल्याणकारी कौन?

तीनकाल और तीनलोक में भी प्राणियों को सम्यक्त्व के समान अन्य कोई श्रेयरूप नहीं है; उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के समान अन्य कोई अहितरूप नहीं है।

[रत्नकरण्डश्रावकाचार]

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र